लोहिया का स्त्री-विमर्श

प्रेम सिंह

(यह लेख करीब 25 साल पहले लिखा गया था। लेख का संपादित अंश पहले 'जनसत्ता' और उसके बाद पूरा लेख 'सामयिक वार्ता' और 'वसुधा' पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ। 'स्त्री: मुक्ति का सपना', अतिथि संपादक अरविंद जैन, लीलाधार मंडलोई; संपादक/सहायक संपादक कमला प्रसाद, राजेंद्र शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009) में भी यह लेख संकलित है। नवउदारवादी अथवा कारपोरेट पॉलिटिक्स के दौर में भारतीय स्त्री की स्थिति को लोहिया के साहसिक विचारों के सन्निधान में रख कर देखें तो गहरी निराशा होती है। वह एक ऐसा वोट बना दी गई है जिसे चुनाव से पहले कुछ रुपये देकर जैसे चाहो मोड़ा या खरीदा जा सकता है! आकाशदीप ने कुछ दिनों पहले यह लेख कंपोज कर दिया। सोचा डॉ लोहिया की जयंती 23 मार्च के अवसर पर नए पाठकों के लिए इसे यथारूप फिर से जारी कर दिया जाए।)

1

गांधी के बाद डॉ. राममनोहर लोहिया को आधुनिक भारत का एक ऐसा मौलिक चिन्तक कहा जा सकता है जिनकी मर्मभेदी जिज्ञासा जीवन को समग्रता में समझने के साथ-साथ एक ऐसा दर्शन पाने की है, जिसके तहत दुनिया से हर तरह की गैर-बराबरी को समाप्त किया जा सके और एक सम्भव समतामूलक समाज का निर्माण किया जा सके। गांधी के बाद लोहिया ऐसे चिन्तक भी हैं, जिनके द्वारा पैदा की गई वैचारिक और आन्दोलनात्मक ऊर्जा का अधिकांश फलीभूत नहीं हो पाया। साम्यवाद और पूँजीवाद दोनों को स्वतन्त्रता और समता के सन्दर्भ में 'बंद व्यवस्थाएँ' मानते हुए उन्होंने जिस समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया, उससे प्रभावित विद्वान और नेता दर्शन, संस्कृति, सभ्यता, धर्म, समाज, राजनीति, साहित्य, भाषा और शिक्षा के क्षेत्र में उसका सम्यक शास्त्र विकसित नहीं कर पाए। लोहिया के चिंतन का टुकड़ों में ही उपयोग किया गया है।

एक चिंतक के रूप में लोहिया की एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि उन्होंने सिद्धान्त-निर्माण की उस प्रचलित मान्यता को तोड़ दिया, जिसके तहत सिद्धान्त गढ़ने का काम नेता या विचारक करता है, और सामान्य लोग उसका अनुगमन करते हैं। उन्होंने सिद्धान्त-निर्माण से ज्यादा समाज के वंचित और उत्पीड़ित समूहों के अंतर्निहित सामर्थ्य (इनहेरेंट पोटेंशल) को उन्मुक्त करना जरूरी और महत्त्वपूर्ण समझा। भारतीय समाज के सन्दर्भ में उन्होंने ब्राह्मणवादी-सामान्तवादी-पूँजीवादी बौद्धिक-सांस्कृतिक संरचनाओं के परिवर्तनकारी प्रतिरोध के लिए वंचित और उत्पीड़ित समूहों - आदिवासी, दलित, पिछड़े, स्त्रियाँ, अल्पसंख्यक के सामर्थ्य को उन्मुक्त और सक्रिय करने पर बल दिया। लोहिया की इस पेशकश में बौद्धिक वर्चस्ववाद का विरोध मिलता है। कतिपय समाजवादी विद्वानों को भी लोहिया के चिन्तन में परिपूर्णता का जो अभाव लगता है, उसका कारण शायद यही है कि वे मानते हैं कि विश्व-दृष्टि कोई एक ही चिन्तक या चिन्तन-परम्परा देती है।

लोहिया की चिन्तन-शैली की यह विशिष्टता है कि वे किसी भी विषय या समस्या का केवल सैद्धान्तिक स्तर पर निरूपण करके नहीं रह जाते। जिस समाजवादी विचारधारा और दृष्टि का उन्होंने प्रतिपादन किया है, वे उसका महज निर्गुण/सैद्धान्तिक निरूपण न करके उसे सगुण/सर्जनात्मक बहस के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे वैचारिक सामग्री ठोस सामाजिक-सांस्कृतिक-ऐतिहासिक सन्दर्भों और समकालीन जीवन-विधान से उठाते हैं। मनुष्य, खासकर भारतीयों के सांस्कृतिक-सामाजिक मनोविज्ञान में उनकी गहरी रुचि और पैठ थी। उन्होंने परम्परागत मिथकों को फोड़कर उनमें से आधुनिक जीवन के लिए सार्थक अंतर्वस्तु पैदा की है। हर तरह की गैर-बराबरी से लड़ने के लिए भारतीयों के बद्धमूल सांस्कृतिक-सामाजिक मनोविज्ञान में बदलाव पर जितना बल लोहिया ने दिया है, उतना किसी अन्य आधुनिक विचारक ने नहीं। यह बलाघात सबसे अधिक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में बद्धमूल गैर-बराबरी को दूर करने के मकसद से दिया गया है। दरअसल, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में क्रान्ति लोहिया द्वारा प्रतिपादित 'सप्तक्रांति' का सबसे महत्त्वपूर्ण आयाम कहा जा सकता है।

2

आधुनिक स्त्रीवादी विमर्श में लोहिया की भूमिका बड़े महत्त्व की है। स्त्री-मुक्ति के पक्ष में उन्होंने जो चिन्तन प्रस्तुत किया है उसे क्रान्तिकारी कहा जा सकता है। स्त्री-मुक्ति की विभिन्न विचारधाराओं और आन्दोलनों को लोहिया के विचारों से समुचित प्रेरणा और मार्गदर्शन मिल सकता है। साथ ही यह सबक भी कि केवल सन्दर्भ-विहीन सैद्धान्तिक विमर्श या एकांगी बदलाव के प्रयासों से स्त्री-मुक्ति की दिशा में जरूरी प्रगति नहीं की जा सकती। सगुण समाजवाद के पुरोधा लोहिया स्त्री-विमर्श को भी सगुण रूप में चलाने के पक्षधर हैं। मार्क्सवादी स्त्रीवादी विमर्श के अनुसार स्त्री की अधीनस्थता आर्थिक कारकों के चलते है। लोहिया स्त्री विमर्श को सगुण रूप में चलाने के पक्षधर हैं।

उनका मानना है कि केवल आर्थिक ढाँचा बदलने से स्त्री को पुरुष के साथ बराबरी का दरजा नहीं मिल सकता, जब तक उस दिमाग में, जो स्त्री की पुरुष-हित में छवियाँ गढ़ता है, सम्पूर्ण बदलाव नहीं लाया जाता: "मैं तो यही कहूँगा कि इसमें कुछ जोखिम उठानी पड़ेगी और सब छोटे-मोटे सवाल कि औरत को आर्थिक ढंग से स्वतन्त्र होना पड़ेगा, औरत और मर्द को बराबरी की तनख्वाह देनी पड़ेगी, जैसा काम वैसी बराबरी की मजदूरी वगैरह ये सब किसी भी अच्छे कार्यक्रम के अंग हैं। औरत को बराबर की तनख्वाह या मजदूरी, औरत-मर्द के लिए बराबरी के कानून - इनके ऊपर कच्चा, अधकचरा चिंतक ही शायद बहस करे तो करे, वरना अगर कुछ पुराना हो चुका है तो शर्म के मारे ही बहस नहीं करेगा। क्योंकि वह मान लेता है कि वह तो हमारे शास्त्र का बिल्कुल आधार अंग है.... लेकिन मैं जो चीज कह रहा हूँ वह इनसे बढ़ करके और आगे जाती है और वह है दिमाग के पुनर्गठन वाली बात।" ("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध') यह दिमागी पुनर्गठन पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था में गढ़े गए स्त्री के आदर्श प्रतीकों को बदलकर या तोड़ कर हासिल किया जा सकता है।

पूरी दुनिया में स्त्री को पुरुष के बराबर लाने की लिए वैधानिक अधिकारों/उपायों की व्यवस्था हुई है। इन अधिकारों/उपायों के तहत निश्चित ही स्त्री की स्थिति में सुधार हुआ है। लोहिया वैधानिक अधिकारों/उपायों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए उस मानसिकता में क्रान्तिकारी बदलाव की अनिवार्यता पर बल देते हैं, जिसके चलते स्त्री को हीन करके आंका जाता है और स्त्री भी अपनी वैसी स्थिति को

स्वीकारने के लिए मजबूर होती है। क्योंकि उसके मनोविज्ञान को पुरुष-हित में खास तरह से 'शेप' दी जाती है। लोहिया के अनुसार स्त्री-मुक्ति का संघर्ष आर्थिक-राजनैतिक-वैधानिक के साथ सांस्कृतिक क्षेत्र में चलाना होगा। वे इकहरी आर्थिक या राजनैतिक क्रान्ति के पक्षधर नहीं हैं। उनकी मुताबिक राजनैतिक-आर्थिक क्रान्ति के समानांतर 'सच, कर्म, प्रतिकार और चरित्र-निर्माण' की प्रक्रिया चलनी चाहिए; मानव-मुक्ति का संघर्ष पदानुक्रमता में नहीं समग्रता में चलाना चाहिए। उनकी यह समझदारी गांधी के विचारों से प्रेरित है, हालाँकि उनके स्त्री-मुक्ति विषयक विचार गांधी से ज्यादा ठोस व क्रान्तिकारी हैं।

लोहिया के स्त्री-विमर्श में निम्न वर्ग से लेकर उच्च वर्ग और एशिया से लेकर यूरोप-अमरीका तक की स्त्रियों की दशा का विश्लेषण मिलता है। जहाँ तक भारतीय समाज का सवाल है, वे यहाँ की आबादी की जीवन के प्रति उदासीनता का सर्वप्रमुख कारण जाति और लिंग के दो कटघरों को मानते हैं। इन दो कटघरों को तोड़कर ही सम्पूर्ण आबादी की जीवंतता और उल्लास हासिल किए जा सकते हैं। लोहिया भारत में स्त्री की गिनती पाँच दबे हुए समुदायों - दलित, शूद्र, मुसलमान और आदिवासी - में करते हैं। वे वर्गगत या जातिगत आधार पर उनका वर्गीकरण नहीं करते। उनका मत रेडिकल स्त्रीवादियों के नजदीक पड़ता है, जो सभी स्त्रियों को एक वर्ग मानते हैं और साथ ही पितृसत्तात्मकता को प्राकृतिक, यानी शुरू से चली आ रही और आगे भी जारी रहने वाली परिघटना नहीं मानते।

लोहिया भी लिंग पदानुक्रमता - पुरुष के समक्ष स्त्री की अधीनस्थ स्थिति - को प्राकृतिक नहीं, पुरुषकृत कृत्रिम विधान मानते हैं। स्त्रीवादी विमर्श का एक बड़ा और समस्यात्मक सवाल है कि क्या पितृसत्तात्मकता प्राकृतिक है! यानी पुरुष वर्चस्व के समक्ष स्त्री की अधीनस्थता प्राकृतिक नियम के तहत है, जिसे बदला नहीं जा सकता? पितृसत्तात्मकता को प्राकृतिक मानने वाले यह भी मानते हैं कि जो व्यवस्था बनी है, वही सर्वश्रेष्ठ है और उसे ही रहना चाहिए। लोहिया का स्त्री-पुरुष के बीच गैर-बराबरी के प्राकृतिक कारक के बारे में मानना है कि "इसमें कुदरती हिस्से भी आते हैं। औरत शारीरिक ढंग से कुछ कमजोर होती है। औरत कम से कम अभी तक जो दुनिया रही है, उसमें उम्र बढ़ने पर मर्द के मुकाबले में कुछ जल्दी बुढ़ाती है। औरत को और भी कुछ जोखिमें उठानी पड़ती हैं जिसका नतीजा होता है कि मर्द को सामूहिक जीवन में, व्यक्तिगत जीवन में, औरत के मुकाबले ज्यादा सुविधाएँ मिल जाती हैं।" ("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध')

वे आगे बताते हैं: "संगठन कौन चला सकता है या चलाता है, ज्यादा, भले ही वह अच्छा नहीं, पर ज्यादा ताकत से, वही जिसमें जरा थोड़ी-सी तेजी, एक तरह की हमलावर वृत्ति होती है। यह जरूरी नहीं कि वह हमला कर बैठे, लेकिन एक वृत्ति होती है। समाज में आज देखोगे कि ज्यादा कुशल समाज संगठक वही होते हैं, जिनके दिमाग का संगठन विरोधी तत्वों यानी नाइंसाफी, गैर-बराबरी, बदमाशी, जोर-जुल्म वाले तत्वों को देख कर जो एकदम से, मतलब राजसी वृत्ति जिसमें उठ जाए, जरा तेजी से आगे बढ़ जाए। यह जो तेजी है, या पौरुष कहो, या हमलावर वृत्ति कहो, मर्द में औरत के मुकाबले ज्यादा है। कम से कम अभी मुझे ऐसा लगता है कि शायद यह कुदरती चीज है।" ("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध')

लोहिया यहाँ स्त्रीत्व को सात्विक कोटि में रखते हैं। जैसा कि गांधी ने भी माना है और पश्चिम में कई स्त्रीवादी समूह मानते हैं - जिसके आधार पर एक बेहतर और सुन्दर दुनिया का निर्माण किया जा सकता है। बहरहाल, लोहिया लिंग-भेद के प्राकृतिक कारकों को प्रमुखता न देकर गैर-बराबरी के लिए पितृसत्तात्मक मूल्य-व्यवस्था को ही असलियत में जिम्मेदार मानते हैं।

लोहिया यूरोप और अमरीका के मुकाबले एशिया की स्त्री को परम्परागत रूप से ज्यादा असमानता का शिकार पाते हैं। इसका प्रमाण है एशिया में प्रचलित बहुपत्नी प्रथा, जो कि सामान्य समय में यूरोप और अमरीकी समाजों में नहीं मिलती। लेकिन ऐसा नहीं है कि यूरोप की स्त्री का सर्वांगीण विकास हो चुका है। लोहिया बौद्धिक उत्कर्ष और हिस्सेदारी के मामले में उन्हें पर्याप्त पिछड़ा पाते हैं। उनका अनुभव है कि "दिमागी मामलों में तो कहीं भी संसार-भर में, औरत को बराबरी की जगह नहीं है।"("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध') लोहिया ने मुस्लिम समाज में मान्य चार पत्नी रखने की प्रथा का विरोध दो आधारों पर किया है - एक तो पुरुष चारों पत्नियों के साथ कभी भी बराबरी का व्यवहार नहीं कर सकता, जैसा कि शरीयत में हिदायत है; दूसरे इस्लाम में स्त्री को चार पति रखने की इजाजत नहीं दी गई है। अगर पैगम्बर ने तत्कालीन समाज में स्त्रियों की अधिक आबादी के चलते यह व्यवस्था दी थी, जैसा कि तर्क दिया जाता है, तो लोहिया के मत में मौजूदा परिदृश्य में इस व्यवस्था को निरस्त किया जाना चाहिए।

लोहिया के स्त्री-विमर्श में स्त्री-जीवन के साथ तात्कालिक दशा और समस्याओं पर भी विचार हुआ है। वे पश्चिम से गृहीत आधुनिकता की परम्परा को उन अस्सी प्रतिशत भारतीय स्त्रियों की दशा के सन्निधान में परखते हैं जिन्हें सूर्योदय के पहले या सूरज डूबने के बाद पाखाना फिरने जाना पड़ता है और कुएँ से गन्दा और सड़ा पानी खींचकर या भरकर लाना पड़ता है। गरीबी, उपेक्षा और पिटाई के चलते जिनकी अकाल मौत हो जाती है। लोहिया दलित और शूद्र स्त्रियों के साथ द्विज स्त्रियों को भी किसी न किसी हद तक और किसी न किसी रूप में शोषित और पराधीन मानते हैं। नई राजनैतिक संस्कृति के सृजन के लिए उन्होंने दलित, शूद्र, आदिवासी और अल्पसंख्यक समूहों के साथ स्त्री को भी एक ऐसा समूह माना है जिन्हें पार्टी या सरकार में नेतृत्व के पदों पर रखा जाए।

मराठी नाटककार वरेरकर की नाट्य कृति 'भूमि कन्या सीता' से प्रेरणा पाकर लोहिया ने कट्टरता की वाहक वशिष्ठ-परंपरा और उदारता की वाहक वाल्मीकि-परम्परा का उल्लेख किया है, जो किसी भी देश और किसी भी काल में हो सकती हैं। इस स्थापना को अन्य सन्दर्भों के अलावा उन्होंने स्त्री-सन्दर्भ में भी लागू किया है। तत्कालीन प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू को वशिष्ठ-परम्परा का वाहक और पोषक मानते हुए लोहिया लिखते हैं: "औरतों के विवाह और सम्पत्ति सम्बन्धी कानूनों पर प्रधानमन्त्री अड़े। देखने में यह अड़ उदार थी। लेकिन वास्तव में इसके पीछे कोई सौ बरस की पश्चिमी परम्परा है, जिसको आधुनिकता की परम्परा भी कहते हैं। मेरा यह मतलब नहीं कि यह खराब थी। औरतों को मर्दों के समान हक तो मिलना ही चाहिए। सच पूछो तो ज्यादा, तभी समानता आ सकेगी। लेकिन मर्द-औरत समानता की दिशा में प्रधानमन्त्री का यह कोई बड़ा और उदार कदम तो था नहीं। हिन्दुस्तान की अस्सी फीसदी औरतों को इन कानूनों का क्या प्रयोजन। ये तो उनके हैं ही, जिस हद तक वर्तमान सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में हो सकते हैं। प्रयोजन तो है द्विज नारियों को, ब्राह्मणियों, सेठानियों और

ठकुराइनों को। वही गिरोह-स्वार्थ। वही आधुनिकता की पिटी-पिटाई परम्परा। मैं फिर कह दूँ काम अच्छा था। ऐसा मत समझ लेना कि कट्टर ब्राह्मण कभी कोई अच्छा काम करता ही नहीं। चाहे किसी छोटे से छोटे गिरोह को चाहे जितनी छोटी से छोटी आजादी मिले, तो उसका नमस्कार हर समय होना चाहिए। लेकिन समझकर। छोटे गिरोह की छोटी आजादी। काम अच्छा था लेकिन अधूरा और द्विज-स्वार्थ का। वाल्मीकि होते तो अस्सी फीसदी औरतों की भी सोचते। उदार मन से उनकी यातनाओं का इलाज निकालते।" ('वशिष्ठ और वाल्मीकि') यहाँ कहा जा सकता है कि सभी स्त्रियों को एक शोषित समूह मानने के बावजूद लोहिया की सोच का झुकाव सामाजिक-आर्थिक-शैक्षिक रूप से विपन्न स्त्रियों की तरफ है।

लोहिया के स्त्री-विमर्श का प्रधान क्षेत्र हिन्दू समाज है, जिसका वे स्वयं अंग थे। उन्होंने हिन्दुस्तान में स्त्री की स्थिति और छवि की लिखित और मौखिक सांस्कृतिक-सामाजिक परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में जाँच-पड़ताल की है, जहाँ स्त्री के व्यक्तित्व को दबाकर एकांगी बनाने का जाना-बूझा उद्यम हुआ है: "पिछले कई हजार बसर में भारतीय इतिहास या किंवदन्ती या इस तरह के जितने भी किस्से गढ़े गए हैं, या घटनाएँ हुई हैं, जिन पर कवियों ने, लेखकों ने अपनी छाप लगाई है, उनमें मर्द और औरत के बीच में अजब तरह की गैर-बराबरी रही है। हालाँकि, उस गैर-बराबरी के आधार पर पातिव्रत धर्म वाली एक रचना बड़ी सुन्दर खड़ी कर दी गई है। मैं उसकी बेइज्जती नहीं करता। वह सुन्दर रचना है। कहीं आप ऐसा मत समझ लेना कि मैं उस औरत को पसन्द करता हूँ जो एक से ज्यादा प्रेम करे, या एक साथ या एक के बाद एक। मेरी तो मुसीबत यह है कि बराबरी चाहिए। अगर मर्द एक के बाद एक प्रेम कर सकता है तो फिर औरत को भी वही गुंजाइश होनी चाहिए।" ("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध')

वे कहते हैं कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में स्त्री को शक्तिरूपा कह कर मान दिया गया है। परम्परावादियों के स्त्री के इस तरह के महिमामंडन के खोखलेपन को लोहिया पहचानते हैं: "ऐसा लगता है उन्हें जकड़ लिया गया है। उन्हें परम्परा की सैकड़ों रस्सियों और बेड़ियों में बाँध दिया गया है। उनमें शक्ति ही नहीं, चाहे वे जिस किसी वर्ग या प्रकार की नारियों हों। भारत की नारी सचमुच बंधी हुई है। नाम के लिए दुर्गा और भगवती है, जिसका एक स्वरूप काली है, लेकिन दरअसल एक शक्तिहीन पदार्थ है।" ("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध')

3

भारतीय स्त्री के सन्दर्भ में लोहिया धार्मिक-सांस्कृतिक मिथकों-प्रतीकों और आख्यानों को बहस का मुद्दा बनाकर आधुनिक भारतीय स्त्री की नई छवि गढ़ना चाहते हैं। वे बड़ी ही शिद्दत के साथ इस बहस को उठाते हैं कि भारतीय स्त्री का आदर्श द्रौपदी हो या सावित्री? उन्होंने द्रौपदी को लेकर **महाभारत** के पाठ की नई व्याख्या की है। उनकी निगाह में द्रौपदी गजब की औरत है। वे सावित्री के पातिव्रत धर्म-पालन के एकांगी गुण और अनुवर्ती व्यक्तित्व के मुकाबले द्रौपदी के बहुगुणवान और तेजस्वी व्यक्तित्व का पक्ष लेते हैं: "जब में कहा करता हूँ कि द्रौपदी हिन्दुस्तान की सच्चे माने में प्रतीक है, सावित्री उसके जितनी नहीं, तब इसी अंग को देखकर कहता हूँ कि वह ज्ञानी, समझदार, बहादुर, हिम्मतवाली, हाजिर जवाब थी। न सिर्फ हिन्दुस्तान में बल्कि दुनिया में मुझे द्रौपदी जैसी और कोई औरत नहीं मिलती। अगर दुनिया वाला किस्सा लम्बा-चौड़ा हो, अपने हिन्दुस्तान में तो निश्चित है कि

उससे ज्यादा बड़ी औरत और कोई नहीं है। केवल एक पातिव्रत धर्म के कारण सावित्री को इतना सिर पर उठा लिया करते हो, यह तो बहुत ही अनुचित चीज है। यह दिखाता है कि हम लोगों का दिमाग कितना कूढ़मगज हो गया है। मर्द के हितों की रक्षा करने वाला हो गया है।" ("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध')

लोहिया इस समस्या से वाकिफ हैं कि द्रौपदी को स्त्री का आदर्श प्रतीक स्वीकार करने की बात पर हिन्दू पुरुष का दिमाग पाँच पतियों वाली बात सबसे पहले सोचेगा। लोहिया ऐसे ही सड़ चुके दिमाग को ठोकर मारकर बदलने, पुनर्गठित करने की जरूरत बताते हैं, ताकि वह द्रौपदी की उसके गुणों के आधार पर सराहना कर सके। वे स्वयं यह नहीं स्वीकार करते कि स्त्री के एक से अधिक पति हों या पुरुष की एक से अधिक पत्नियाँ। उनकी राय में, "शायद वह दुनिया अच्छी होगी जिसमें एक पति और एक पत्नी हो।" ("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध') लेकिन वे पातिव्रत धर्म के एकांगी गुण के आधार पर स्त्री का आदर्श प्रतीक गढ़ने के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है, "सावित्री के किस्से को मैं खराब नहीं कहता हूँ, न सावित्री की नाकदरी करता हूँ। सावित्री की में बड़ी भारी कदर करता हूँ, सिर्फ एक अंग में। लेकिन औरत का एक अंग ही नहीं होता। उसके बीसों अंग होते हैं। अगर उस एक अंग को पनपाने में बाकी उन्नीस अंग नष्ट हो जाते हों या वे खतरे में पड़ जाते हों, तो फिर उसको आदर्श बनाना मुश्किल हो जाता है।"

स्त्री के आदर्श को केवल पातिव्रत धर्म से जोड़ने के आग्रह को लोहिया स्त्री की पराधीनता का आग्रह मानते हैं। वे पार्वती के विवाह के उस प्रसंग का हवाला देते हैं, जिसमें पार्वती की माँ कहती है "कत विधि सृजी नारि जग माही/पराधीन सपनेहू सुख नाही।" इस बंध में औरत के दिल की जो टीस व्यक्त हुई है, उसे नजर अन्दाज करके और चौपाई को विकृत करके पुरुष-दिमाग ने उसका संबंध हिन्दुस्तान की पराधीनता से जोड़ दिया है: "कर विचार देखहु मन माही/पराधीन सपनेहु सुख नाही।" लोहिया का चौपाई को उसके सही संदर्भ में पढ़ने-समझने का आग्रह है। वे नहीं चाहते कि राष्ट्रीय स्वाधीनता के लक्ष्य की ओट में स्त्री की स्वाधीनता का लक्ष्य ओझल हो जाए।

भारत में पाँच कन्याओं - सीता, सावित्री, द्रौपदी, तारा, मन्दोदरी की 'मानता' है। लेकिन इन पाँचों में धुरी सावित्री ही है। द्रौपदी के प्रति इज्जत का भाव नहीं मिलता। लोहिया सावित्री वाली धुरी को बदल कर वहाँ द्रौपदी को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। वे पातिव्रत धर्म और यौन-शुचिता के गुण के एकांगी आधार पर स्त्री का आदर्श प्रतीक नहीं चाहते। उनकी निगाह में द्रौपदी के अन्य गुणों का ज्यादा महत्व है। जुए में हारी जाने के बाद दरबार में उसकी जिरह, कृष्ण के प्रति सखा-भाव, भीष्म पितामह के अन्तिम प्रवचन के वक्त उसका हँसना जैसे द्रौपदी के गुणों को सामने लाने वाले प्रसंगों की अत्यन्त उद्घाटक व्याख्या लोहिया ने की है। **महाभारत** के अंत में, द्रौपदी और पाण्डवों के हिमालयारोहण के दौरान द्रौपदी सबसे पहले गलती है। लोहिया इस किस्से की गढ़ंत के पीछे पुरुष-दिमाग की खुराफात मानते हैं। उनके विचार में द्रौपदी को सबसे आखिर में गलना चाहिए था। द्रौपदी के सबसे पहले गलने के पीछे तर्क दिया गया है कि उसने अपने पाँचों पतियों के प्रति समता न रखकर अर्जुन के प्रति ज्यादा प्रेम दिखाया; वह अपने पांचों पतियों के प्रति समता का आदर्श नहीं निभा सकी। लोहिया का तर्क है

कि आदर्श से स्खलन का ही मुद्दा है तो पाण्डव, विशेषकर भीम और युधिष्ठिर, द्रौपदी के सन्दर्भ से अधिक स्खलित हुए।

“भरतु अवधि सनेह ममता की। यद्यपि रामु सीम समता की।।” **रामचरित मानस** की यह चौपाई उद्धृत करके लोहिया राम के सम्भव समतामूलक चरित्र की सराहना करते हैं। लेकिन राम के तीन-चार दोषों में उन्हें सीता-त्याग वाला दोष 'जबरदस्त' लगता है। लोहिया शायद अकेले चिन्तक हैं जो इस प्रसंग को लेकर राम के कट्टर आलोचक हैं: "यह किस्सा है ही गंदा। राम ने जिस तरह से सीता के साथ व्यवहार किया है, हिन्दुस्तान की कोई भी औरत राम के प्रति कैसे बड़ा स्नेह कर सकती है, इससे मुझे कई बार बड़ा ताज्जुब होता है।" (“योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध’)

दरअसल लोहिया यहां सच्ची स्त्री-चेतना की पुकार करते हैं और उन्हें वहाँ श्रमशील स्त्रियाँ मिलती है: "...हिन्दुस्तान में ऐसी औरते हैं और लाखों-करोड़ों की तादाद में रहीं कि जिन्होंने सीता की तरफ से राम को, जब बच्चे पैदा होते हैं या शादी वगैरह के मौकों पर पापी कहा है। यह बात बहुत कम लोग जानते हैं क्योंकि किताब लिखने वाले तो बड़े सुसंस्कृत, सभ्य लोग होते हैं, लेकिन वे मजदूरिनें जो खेतों में काम करती हैं, घास वगैरह छीलती हैं, उनका दिल छिल करके कभी बोलता है। वह वशिष्ठ और राम का किस्सा कि गुरु, तुम मुझको ले जाना चाहते हो - यज्ञ के समय पर राम सीता की जरूरत समझते हैं, उसको भेजते हैं - तुम्हारे कहने से एक कदम तो मैं तुम्हारे साथ चल लेती हूँ लेकिन मैं उस पापी का मुँह फिर से नहीं देखूँगी। खेती-मजदूरिनें ही, जो मेहनत से जिन्दगी चलाने की अभ्यस्त हैं उनको हिम्मत हो सकती है यह शब्द कहने की। दूसरी शायद न कह पाएँ। इस ढंग के विचार पहले की रामायणों में हैं, बाद में तो वे बिल्कुल खत्म हो गए।" (“योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध’)

4

नए-पुराने सभी समाजों में स्त्रियों की यौन-शुचिता एक संवेदनशील और साथ ही समस्यात्मक मुद्दा रहा है। पुरुष द्वारा मूल्य के रूप में स्थापित और स्वीकृत यौन-शुचिता की मान्यता ने स्त्री-स्वातन्त्र्य को सम्भवतः सर्वाधिक गहरे में बाधित किया है। इस मान्यता के चलते स्त्री या तो जीवन-भर के लिए कुंठित होती है, या आत्महत्या करती है, या सती होती है, या सारी उम्र विधवा के रूप में काटती है या वेश्या बनने को बाध्य होती है। हर प्रकार का स्त्रीवादी विमर्श इस मुद्दे से टकराता है, लेकिन समस्या का सम्यक समाधान नहीं निकल पाता।

लोहिया के स्त्री-विमर्श में सर्वाधिक विस्फोटक इसी 'मूल्य' को उड़ाने के लिए जुटाया गया है: "हिन्दुस्तान आज विकृत हो गया है, यौन-पवित्रता की लम्बी-चौड़ी बातों के बावजूद, आमतौर पर विवाह और यौन के सम्बन्ध में लोगों के विचार सड़े हुए हैं। सारे संसार में कभी-कभी मर्द ने नारी के संबंध में शुचिता, शुद्धता, पवित्रता के बड़े लम्बे-चौड़े आदर्श बनाए हैं। घूम-फिरकर इन आदर्शों का संबंध शरीर तक सिमट जाता है, और शरीर के भी छोटे-से हिस्से पर। नारी का पर-पुरुष से स्पर्श न हो। शादी पहले हरगिज न हो। बाद में अपने पति से हो। एक बार जो पति बने, तो दूसरा किसी हालत में न आए। भले ही ऐसे विचार मर्द के लिए सारे संसार में कभी न कभी स्वाभाविक रहे हैं, परन्तु भारत-भूमि पर इन विचारों को जो जड़ें और प्रस्फुटन मिले, वे अनिवर्चनीय हैं। 'अष्टवर्षा भवेत गौरी' यह सूत्र किसी

बड़े ऋषि ने चाहे न बनाया हो लेकिन बड़ा प्रचलित है आज तक। इसे जकड़ कर रखो, मन से, धर्म से, सूत्र से, समाज-संगठन से और अन्ततोगत्वा शरीर की प्रणालियों से कि जल्दी से जल्दी लड़की का विवाह करके औरत को शुभ, शुद्ध और पवित्र बनाकर रखो। विवाह से कन्या पवित्र नहीं होती तब तक उसको असीम अकेलेपन में जिन्दगी काटनी पड़ती है।" ("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध')

औरत की इस परतन्त्रता से व्यथित लोहिया आगे कहते हैं: "और देशों में भी औरत को जकड़ने की कोशिश की गई है, लेकिन यहाँ गजब तरीकों से। उसे शुद्ध रखने के लिए कितना लांछित और अपमानित किया गया है, यह आज एक भारतीय की बोली से अनायास टपकता है। ऐसा लगता है मानों उसकी कभी माँ न रही हो। अब तक ऐसी जातियाँ रही हैं जो अपनी माँ के हाथ की बनाई रसोई अशुद्ध समझती हैं और बाप अथवा भाई का बनाया भोजन खाते हैं। और **महाभारत** का वह श्लोक, क्षेपक है या नहीं सो पता नहीं, लेकिन दूर तक इसी उद्गम से प्रचलित है 'सुन्दर पुरुष द्रष्टवा भ्रातरं पितरं, योनि द्रवति नारीणां' वगैरह पता नहीं बात सत्य है या झूठ, अगर सच है जितनी और के लिए उतनी ही मर्द के लिए, और सिर्फ कला अथवा मजाक की सामग्री हो सकती है। लेकिन समाज के गठन की गम्भीर चर्चा के समय ऐसा श्लोक भारत के मर्द के असीम पाजीपन का नमूना है।" ("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध') लोहिया स्त्री-पुरुष के बीच काम-संबंध में केवल दो अक्षम्य अपराध मानते हैं - बलात्कार और वादा-खिलाफी या झूठ। उनके इस कथन का पुरुषों द्वारा चटखारे लेकर जिक्र किया जाता है। लोहिया साथ ही यह भी कहते हैं कि काम-संबंध केवल शरीरिक संबंध नहीं होता। वह एक-दूसरे के प्रति विश्वास पर आधारित प्रेममय सम्बन्ध होता है, जिसमें जहाँ तक हो सके एक-दूसरे के दिल को दुख या ठेस नहीं पहुँचाई जाए।

सन्तानोत्पत्ति और तलाक के मुद्दे स्त्रीवादी विमर्श में महत्वपूर्ण रहे हैं। इन दोनों मुद्दों के साथ चिपकी नैतिकता स्त्रियों की जान संकट में डालने वाली रही है। लोहिया ने सन्तानोत्पत्ति और तलाक के नैतिक पहलुओं की पुनर्व्याख्या पर बल दिया है। नैतिकता को सापेक्ष मानते हुए सवाल किया गया है: "एक औरत जिसने अपनी सारी जिन्दगी में सिर्फ एक ही बच्चे को जन्म दिया हो, चाहे वह अवैध ही क्यों न हो, और दूसरी ने आधे दरजन या ज्यादा वैध बच्चे जने हों, तो इन दोनों में कौन ज्यादा शिष्ट और ज्यादा नैतिक है? एक औरत जिसने तीन बार तलाक दिया और चौथी बार वह फिर शादी करती है, और एक मर्द चौथी बार इसलिए शादी करता है कि एक के बाद एक उसकी पत्नियाँ मर गई हैं, तो इन दोनों में कौन ज्यादा शिष्ट और ज्यादा नैतिक है?" ("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध')

अवैध बच्चे के जन्म और तलाक को लोहिया इस अर्थ में असफलता मानते हैं कि स्त्री-पुरुष संबंधों में पारस्परिक विश्वास का आदर्श हासिल नहीं हो पाता। वैसे में उनका उत्तर है: "मेरे मन में कोई शक नहीं है कि सिर्फ एक अवैध बच्चा होना आधे दर्जन बच्चे होने से कई गुना अच्छा है। उसी तरह इसमें कोई शक नहीं कि तीन पत्नियों में सभी की मृत्यु आकस्मिक नहीं हो सकती, उपेक्षा और गरीबी जरूर ही रही होगी, और इस तरह की उपेक्षा उन झगड़ों से कहीं ज्यादा बुरी है, जिनकी वजह से तीन बार और ज्यादा तलाक हुए हों।" ("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध') यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि सन्तानोत्पत्ति और तलाक दोनों मामलों में स्त्री की इच्छा के महत्व और सम्मान पर बल दिया गया है।

लोहिया उन दो परस्पर विरोधी भावनाओं पर भी विचार करते हैं जिनके तहत पुरुष एक साथ बुद्धिमान किन्तु उसके कब्जे में रहने वाली स्त्री की आकांक्षा करता है: "नर चाहता है कि नारी अच्छी भी हो, बुद्धिमान हो, चतुर हो, तेज हो, और उसकी हो, उसके कब्जे में हो। ये दोनों भावनाएँ परस्पर विरोधी हैं। परतन्त्र व्यक्ति जीवंत/जिन्दादिल नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता जीवंतता की शर्त है। केवल मुर्दा चीज पर कब्जा किया जा सकता है। अतः अगर पुरुष एक जीवन्त स्त्री चाहता है तो उसे परतन्त्र बनाने की मानसिकता त्यागनी होगी।" ("योनि-शुचिता और नर-नारी संबंध')

लोहिया के विचार में स्त्री की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके ही पुरुष आधुनिक बन सकता है। स्वतन्त्र पुरुष और स्वतन्त्र स्त्री के बीच संबंध बनाने में बहुत-सी समस्याएँ, बाधाएँ, उलझनें आड़े आएँगी। इस संबंध को पाने के लिए पुरुष को अपने संस्कारग्रस्त दिमाग से जूझना होगा, उससे निजात पानी होगी। यह संबंधों में सांस्कृतिक क्रान्ति होगी जिसके बाद जीवन में उल्लास और जीवन्तता आएगी। लोहिया इस तथ्य पर गौर करते हैं कि स्त्री को परतन्त्र या एकांगी बनाए रखने के चलते हिन्दुस्तान के स्त्री और पुरुष दोनों प्रेम और सौंदर्य के क्षेत्र में पिछड़ गए हैं। दोनों के बीच नया संबंध बनने पर प्रेम और सौंदर्य के नए लोक में प्रवेश होगा।

द्रौपदी के कृष्णा नाम के आधार पर लोहिया को लगता है कि वह साँवले रंग की स्त्री रही होगी। वे साँवले रंग के सौन्दर्य को गोरे रंग के सौन्दर्य के मुकाबले ज्यादा आकर्षक बताते हैं। यहाँ वे सौन्दर्यबोध का फैलाव तो करते ही हैं, रंगीन चमड़ी वाले समाजों में गौरवर्ण स्त्री को सौंदर्य का प्रतीक मानने की प्रवृत्ति का भी विरोध करते हैं, जिसके चलते अधिकांश स्त्रियों को असुन्दर करार दिया जाता है। लोहिया का मानना है कि कोई स्त्री असुन्दर नहीं होती, बशर्ते दृष्टि बंधी हुई या एकांगी न हो।

स्त्री-मुक्ति के सन्दर्भ में लोहिया का आह्वान पुरुष-दिमाग के प्रति है, क्योंकि स्त्री को दबाकर रखने वाली सांस्कृतिक-सामाजिक-संवैधानिक संरचनाओं की निर्मिति में पुरुष-दिमाग का ही वर्चस्व रहा है। लोहिया दो स्तरों पर उद्यम करने का सुझाव देते हैं - व्यक्तिगत और सामाजिक। पुरुष स्त्री के प्रति अपनी संकीर्ण धारणाओं से छुटकारा पाने के लिए अकेले में गहन आत्मालोचन करे, अपने दिमाग को बदले; और सामाजिक स्तर पर स्त्री के आदर्श प्रतीक के बारे में सांस्कृतिक-साहित्यिक कोटि की बहस चलाई जाए। साथ ही स्त्री 'आत्मदाह' न करके अपना दिमाग 'समाजदाह' की दिशा में लगाए। यानी क्रूर पितृसत्तात्मक सामाजिक विधान से टकराकर स्त्री-हित में नई संरचनाओं का सृजन करे।

आधुनिक स्त्रीवादी विमर्श का एक पहलू यह है कि स्त्रीवादी विमर्श केवल स्त्री-लेखन से ही होता है, जिसमें स्त्री-चेतना का सीधे चित्रण होता है। चेतना बनाम संवेदना की यह बहस दलितवादी विमर्श को लेकर भी है। लोहिया के स्त्री-विमर्श में इसकी पूरी गुँजाइश है कि पुरुष-प्रतिभा भी स्त्रीवादी विमर्श में सकारात्मक भूमिका निभा सकती है।

(*समाजवादी आंदोलन से जुड़े लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व शिक्षक और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के पूर्व फ़ेलो हैं।*)